लोक में तालीम और तमीज

डॉ.लक्ष्मीकान्त चंदेला
सहायक प्राध्यापक हिन्दी
शासकीय स्वशासी स्नातकोत्तर महाविद्यालय, छिंदवाड़ा, म.प्र.
एवं
एसोसिएट, भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला, भारत
मोबाइल – ९९९३४५८१९१
ईमेल - lkchandela@rediffmail.com

सारांश –

समय भी अपनी गति से बढ़ते हुए जीवन को दो पीढ़ियों में विभक्त कर दिया है जिससे पीढ़ियों में अंतराल दिखाई देने लगा है। इतना ही नहीं नयी पीढ़ी, पुरानी पीढ़ी को चुकी हुई मानने लगी है। यह तालीम और तमीज का अभाव तथा लोक से दूर होते जाने का परिणाम है। जबकि लोक तालीम और तमीज़ दोनों देता है। इसी से हमें - चारित्रिक, नैतिक, सांस्कारिक तथा लोक तकनीक व संबंध-ज्ञान की शिक्षा भी मिलती है। इसी शिक्षा से व्यक्ति युग पुरुष और युग निर्माता हुए हैं। मगर अब हम लोक शिक्षा को छोड़कर विश्व की यंत्र शिक्षा को पाने की होड़ में सम्मिलित हो गए है। सही में हमसे बड़ा करमहीन और फूटे नसीबों वाला भला कौन हो सकता है ? वह भी जब कि सब कुछ अपने लोक में हो, लोक संस्कारों में हो, लोक के गवैयों की वाणी में हो और हम अपने जीवन विकास के सूत्र डिंग, डंग, डिंग, डिंग डंग डिंग डंग .... की धुन में खोज रहे हैं। ऐसी नादानी हमें ब्रह्मज्ञानी नहीं, तत्त्व ज्ञानी नहीं, यंत्रज्ञान तक ही सीमित रख देगी; जहां मशीन तो होंगी पर मनुष्यता नहीं होगी। लोक में दो ही चीज सर्वोपरि हैं - एक तालीम और दूसरा तमीज। इसके बिना न मनुष्य की कल्पना की जा सकती है और न मनुष्यत्व की; न ज्ञान की और न ही विवेक की।

सही में अब, इस संसार का अर्थ बदल चुका है - गांव के भूगोल की दृष्टि से, शब्द के अर्थ की दृष्टि से, भाषा के सौन्दर्य की दृष्टि से, देश-दुनिया के बीच दूरियां कम होने की दृष्टि से, सुख-दुःख के कारणों की दृष्टि से, जीवन के मायनों की दृष्टि से। इसीलिए आज का समाज बेहद फिक्रमंद है।

अस्तु , हमें और सारी मानवता को आवश्यकता है मनुष्य बनने की, बनाने की, जो केवल और केवल लोक शिक्षा से प्राप्त तालीम और तमीज से मिल सकती है। साथ ही लोक शिक्षा का महत् उद्देष्य है पीढ़ियों में अंतराल को खत्म करना तथा जीवन को मनुष्य की तरह जीने की तमीज प्रदान करना, मशीन होने से बचाना।

बीज शब्द - *लोक, तालीम, तमीज और चरित्र*

प्रस्तावना - 'पीढ़ियों में अंतराल' इस संसार की यथार्थता को व्यक्त करता है। इतना ही नहीं जीवन में नैराश्य और वैषम्यता के घटकों को भी प्रभावी बना दिया है यह कहकर कि इस संसार का अर्थ बदल चुका है। सच में खेती-किसानी, हार-पहार और अपने बड़े-बूढ़ों से दूर होते जाना; संसार के अर्थ बदल जाने की

सच्चाई है। बेशक यह सब लोक से दूर होते जाने का परिणाम है वरन् युग पुरुष व युग निर्माता भी लोक शिक्षा प्राप्त कर हुए हैं।

उद्देश्य- पीढ़ियों में अंतराल को खत्म करना तथा मनुष्य को मशीन होने बचाना लोक शिक्षा का महत् उद्देष्य है। फिर सोच, दृष्टि और मान्यताएं बदल गई हों तब यह निर्धारित-स्थापित कर सकेंगे कि-

-लोक में शिक्षा सर्वोपरि है।

-लोक तालीम का पर्याय है

-लोक तालीम से ही तमीज आती है।

-तालीम के बिना तमीज नहीं आ सकती, यथा- जीवन जीने की, सामाजिक होने की, राष्ट्रीय और वैश्विक होने की, प्रकृति-पर्यावरण संरक्षण आदि की।

-लोक शिक्षा चुकी हुई नहीं है।

-लोक गवैयों की वाणी से असल तालीम और तमीज मिलती है।

महत्त्व- जब जीवन में स्वीकार्य-बोध रह न गया हो तब लोक शिक्षा जीवन और राष्ट्रीय विकास के लिए अनिवार्य घटक बन जाने को प्रत्युत हैं। ऐसे में **महत्त्वपूर्ण** है-

-लोक शिक्षा की अनिवार्यता।

-सामाजिकों में तालीम और तमीज का होना।

-राष्ट्रीय विकास के लिए प्रभावी लोक शिक्षा।

-लोक शिक्षा पीढ़ियों के अंतराल को खत्म करती है।

-लोक व्यवहारों का ज्ञान जीवन विकास के लिए आवश्यक है।

इंसान, दुनिया के बहुत अच्छे और बहुत बुरे दिनों का अनुभव समान रूप से करता है। इसलिए ये स्मृतियाँ बीते दिनों की होकर भी महत्त्वपूर्ण होती हैं क्योंकि नवीन स्मृतियों के साथ वह तरो-ताजा होते जाता है। इस सबके लिए निर्भर करता है कि वह स्मृतियों-अनुभवों का कितना अन्त:ग्रहण करता है, संबंध रखता है, परम्परा से जुड़ाव बनाए रखता है। आज जीवन नयी और पुरानी दो पीढ़ियों में विभक्त हो गया है। इसलिए पीढ़ियों में अंतराल आ गया है फलस्वरूप लोक से दूर होता जा रहा है। नयी पीढ़ी पुरानी पीढ़ी को चुकी हुई समझती है। इसलिए कहने में झिझक नहीं कि स्वीकार्य-बोध रहा नहीं । परिणामतः हिकारत की दृष्टि से देखती है, हेय समझती है, पुराने को स्वीकार कर पाने में असमर्थ है। देखने में आता है कि नयी पीढ़ी लोक परम्पराओं का बहिष्कार करती है। समसिंग हंसे अपनी अनूदित कहानी 'कहानी एक अशुभरात की'

में कहते हैं- ''बहुत बार उसने यह बात सुनी थी कि हर पीढ़ी बदलती रहती है लेकिन उसने यह कल्पना कभी नहीं की थी कि पीढ़ियों का ऐसा आमूलचूल परिवर्तन हो जायेगा।''[१] इस बात को लेकर युग-समाज फिक्रमंद है। साहित्यिक पत्रिका 'दस्तावेज' के अंक159 में प्रकाशित कहानी मे यह संकेत भी मिलते हैं कि कुछ व्यक्ति-जीवन के लिए ''इस संसार का अर्थ बदल चुका है।''[२]

हाँ, इस संसार का अर्थ बदल चुका है - गांव के भूगोल की दृष्टि से, शब्द के अर्थ की दृष्टि से, भाषा के सौन्दर्य की दृष्टि से, देश-दुनिया के बीच दूरियां कम होने की दृष्टि से, सुख-दुःख के कारणों की दृष्टि से, जीवन के मायनों की दृष्टि से। जैसे समकालीन कवि ध्रुव शुक्ल कहते हैं-

सुख में सुमिरन,

दुःख में सुमिरन

करने वाले बदल गए,

कारण सुख के बदल गए,

कारण दुःख के बदल गए।

पर लोक तो वही है। लोक जितना व्यापक कल था उतना ही आज भी है। बदले हैं तो केवल उसके संदर्भ और बदला है समय। समय का क्या कहना वह ''चलता भी है और बदलता भी है, पर समय के अक्षर मिटते नहीं हैं।''[३] (चौमास- पृ. ३८) आज का समय ऐसा है जहां बाजार, विज्ञान, उद्योग और आधुनिकीकरण की माया ने सभी को अपनी गिरफ्त में ले लिया है, इसलिए संसार बदला हुआ दिखाई दे रहा है किन्तु लोक आज भी वैसा ही है, कुछ भी नहीं बदला है। बदली है तो सिर्फ हमारी सोच, हमारी दृष्टि, हमारी मान्यताएँ।

जब लोक नहीं बदला तो उसकी मूल अवधारणा कैसे बदलेगी? वह तो सदैव ही व्यक्ति-मनुष्य-संसार को तालीम और तमीज देता रहा है और आज भी कोई कमी नहीं छोड़ रहा। लोक प्रारंभ से ही तालीम देते रहा है कि सुख और दुःख प्रकृति के शाश्वत सत्य हैं तथा अमिट सत्य बताया है - जीवन और मृत्यु। इसीलिए तुलसीदास लिख पाये कि- 'धरा को प्रमान यही तुलसी, जो फरा सो झरा, बरा सो बुताना।' क्या आज इसके मायने बदल गए हैं? बदले हुए संसार ने सुख और दुःख की प्रकृति को बदल दी है, व्यक्ति या मनुष्य जीवन-मृत्यु से मुक्त हो गया है या उसने सुख-दुःख, जीवन-मृत्यु को अपने वश में कर लिया है? जब चाहे जैसा चाहे लोक-प्रकृति की इस शाश्वतता को बदल सकता है? अगर नहीं तो मुक्तिबोध का यह सवाल जायज है-

''ओ मेरे आदर्शवादी मन

ओ मेरे सिद्धांतवादी मन

अब तक क्या किया

जीवन क्या जिया।''[४]

दरअसल लोक तालीम और तमीज़ दोनों देता है, देता आया है लेकिन जो लोक की तालीम और तमीज़ को समझ नहीं सका वह लोक की संरक्षा तो दूर अपनी भी रक्षा नहीं कर सकता। इसलिए जानना है कि लोक में क्या सर्वोपरि है, क्या आवश्यक है? इस क्रम में जब देखते हैं तो ज्ञात होता है कि लोक में दो ही चीज सर्वोपरि हैं - एक है तालीम और दूसरा तमीज। इसके बिना न मनुष्य की कल्पना की जा सकती है और न मनुष्यत्व की। न ज्ञान की और न ही विवेक की। यह सब जानते हुए भी आज का मनुष्य क्यों अनजान बना फिर रहा है? यह भी विचारणीय बात है। सचमुच लोक तालीम और तमीज का पर्याय है। सीधे तौर पर कहें तो लोक से जीवन जीने की शिक्षा और जीवन कैसे जिया जाए की तमीज हमें मिलती है। मनुष्य इसी की साधना के लिए प्रत्युत हो बोध कर पाता है कि लोक से हमें - चरित्र की, नैतिकता की, संस्कारों की, लोक तकनीक की, संबंध-ज्ञान की शिक्षा मिलती है क्योंकि ये सब मनुष्य जीवन विकास के लिए बेहद जरूरी हैं।

लोक में शिक्षा -

लोक में शिक्षा सर्वोपरि है; पुस्तकीय या अक्षर ज्ञान बस नहीं। जीवन के लिए प्रकृति का तत्त्व ज्ञान और लोक व्यवहारों का ज्ञान आवश्यक है। जिसे प्रकृति तत्त्व का ज्ञान एवं लोक व्यवहारों का ज्ञान है वहीं उत्तम पुरुष, श्रेष्ठ पुरुष और ब्रह्मज्ञानी कहलाया है तथा बन पाया है युग-पुरुष, युग-निर्माता। उसे ही प्रज्ञावान, प्रतिभा सम्पन्न, विवेकी और शक्ति-प्रदाता कहा गया है। इतना ही नहीं कल्पवृक्ष की शीतल छैंया भी उसी के भाग्य लिखी है। शेष सभी के लिए लोक में यह उक्ति प्रचलित हुई- 'करमहीन कलपत रहे कल्पवृक्ष की छाँह।' उसके पास होकर भी उस सुख से वंचित रहते हैं और विश्वज्ञान की आशा लिए दर-दर भटकते रहते हैं। जैसे-

''कस्तूरी कुण्डल बसै मृग ढूंढे वन माहिं

ऐसे घट-घट राम हैं, दुनिया देखे नाहिं।

आज हम भी ऐसे ही हो गए हैं। लोक शिक्षा को छोड़कर विश्व की यंत्र शिक्षा को पाने की होड़ में सम्मिलित हो गए है। सही में हमसे बड़ा करमहीन और फूटे नसीबों वाला भला कौन हो सकता है? जबकि सब कुछ अपने लोक में है, लोक संस्कारों में है, लोक के गवैयों की वाणी में है तब भी हम तो डिंग, डंग, डिंग, डिंग डंग डिंग डंग .... की धुन में खोज रहे हैं। ऐसी नादानी हमें ब्रह्मज्ञानी नहीं, तत्त्व ज्ञानी नहीं यंत्रज्ञान तक ही सीमित रख देगी जहां मशीन तो होंगी पर मनुष्यता नहीं होगी । धिक्कार है ऐसी शिक्षा

पद्धति को जो केवल मशीन बनाकर छोड़ देने के लिए आतुर है। जबकि हमें और सारी मानवता को आवश्यकता है मनुष्य बनने की, बनाने की।

यह अतिश्योक्ति नहीं होगी अगर कहूं कि जीवन को आनंद-लोक में विहार तो लोक शिक्षा ही करवा सकती है। भले ही लोग इसे मेरी निपट निगूढ़ता मान ले, पर सच यही है। बुन्देली लोककथा में इस विश्वास की पूर्ण संभावना प्रतिपादित हुई है- ''अरे ई में पूछबे की का बात है, सूदी साँची बात तौ जा है कि लल्लतपुर की हवा में विश्वास घुरे है।''[५] देखिए लोक शिक्षा की आहोहवा। जहां विश्वास ही विश्वास की भावना निहित है। सच में जीवन का कल्पवृक्ष इतना आसनी से पल्लिवित नहीं होता जिसका भान होकर भी हम अनजान बने हुए हैं। विश्वास करिए लोक की तालीम आपको जीवन आनंद से अनजान रहने भी नहीं देगी और जीने की तमीज भी सिखा देगी।

जो लोक शिक्षा के महत्त्व नहीं को जानता या लोक शिक्षा अर्जित नहीं करना चाहता उसके जीवन में कल्पवृक्ष की छांव की संभावना शून्य रहती है। सर्वज्ञात है कि लोक शिक्षा हमें मानव, प्रकृति, जीवन की संभावना, प्रकृति तत्त्व, संपदा और धरोहरों को सहेजने के लिए सशक्त बनाती है। इतना ही नहीं लोक तकनीक और लोक विज्ञान का पाठ भी पढ़ाती है। वहीं जब आज की शिक्षा प्रणाली व पद्धति पर दृष्टि डालते हैं तो व्यक्ति शिक्षा तो ग्रहण-अर्जित कर रहा है परन्तु लोक तकनीक और विज्ञान आधारित नहीं। इसलिए लोक से कोसों दूर हो गया है। आप ही देखिए आज का उच्च शिक्षा प्राप्त व्यक्ति लोक को जानता तो है पर अपने स्तर तक सीमित है। लोक, परिवेश और परिस्थिति के प्रति ज्ञान शून्य है। इसलिए किसान-पिता की चिंता जायज है कि उसका लड़का पढ़-लिख लेगा तो उससे दूर हो जायेगा। इसलिए आधुनिक शिक्षा से खबरदार रहने की समझाइश पहले से देता रहा है क्योंकि वह लोक ज्ञान-विज्ञान और लोक तकनीक का अच्छा जानकार था इसलिए सालों-बरसों पहले कहा हुआ आज परिलक्षित हो रहा है। आप ही देखिए 'व्यक्ति-संतान आज की शिक्षा प्राप्त कर लेते हैं, तो वह खेती-किसानी से इतना अनजान-अनभिज्ञ हो जाता है कि उन्नत तकनीक तो दूर खेती ही नहीं करना चाहता; जबकि लोक विज्ञानी किसान अपनी संतान को लोक तकनीक से युक्त कर खेती करने की लालसा लिए शिक्षा दिलाना चाहता है। विद्यासिंग रांग्पी की कहानी 'प्रतीक्षा' में इसी दुष्चिंता की लकीर दिखाई देती है-

''पंचो साहिबो, मेरे बहनोई की मौत इसीलिए हुई कि उसकी पत्नी अपने बेटे के मतलब की फिक्र ज्यादा करती थीं। वह दिन-रात खटती रहती है, मुष्किल से दो गस्सा खाती है और यह सारी तपस्या केवल इस बात के लिए कि उसका बेटा लिख-पढ़ जाए। अरे, इस सब से क्या फायदा हुआ? तालीम आपको केवल और आलसी बना देती है।''[६]

इस तरह लोक शिक्षा व्यक्ति जीवन के सर्वांगीण विकास की हिमायती है। ऐसी तालीम और तमीज से युक्त है हमारी लोक शिक्षा।

कृषि शिक्षा-

सदा से खेती किसानी देश और दुनिया की तस्वीर बदलती रही है। लोक में विश्वास है कि ''मेहनत करैं तो हमाए जेई खेत तीस-चालीस गुनी फसल उगाकें देश की हुलिया बदल डारें। धीरज तौ धरौ खेत सोनो उगल है -सोनो।''[७] (बांके बोल, पृ. 105) परन्तु की आज की शिक्षा प्रणाली ने खेती के प्रति व्यक्ति की सोच बदल दी है। खेती तो कोई करना ही नहीं चाहता। इसी उदासीनता को दृष्टिगत रखते हुए बुन्देली लोक कथा में आज की शिक्षा प्रणाली पर कुठाराघात करते हुए कहा गया है- ''अब खेती बारी की परीक्षा पास कर लई। ई-ज्ञान से घर की खेती संभारो। कैवे में सरम लगत। उनै तो पराई सोंजआई सुहा रई। उनकी किस्मत में घूरेई पै लोटबौ बदो है, तो लोटें। हमारी बलाए सें।''[८] (बांके बोल, पृ. 102) इस तरह बुन्देली लोक कथा में खेती किसानी के प्रति रूचि जाग्रति हेतु लोक शिक्षा की सार्थकता पर बल देते हुए अभिव्यक्ति दी गई है- ''जवाई राजा को अब पढ़ाई-लिखाई छोड़कर मेहनत-मशक्कत करनी चाहिए। इससे कम-से-कम उसका घर और जमीन बची रहेगी।''[९]

इस तरह कृषि शिक्षा आधारित इस लोक कथा से किसान जीवन व शिक्षा जगत् में नया अध्याय जुड़ता प्रतीत होता है।

नैतिक शिक्षा –

हमारी सामाजिक परम्पराओं में पल-पल में नैतिक शिक्षा मिलती है। ऐसी नैतिक शिक्षा जो अपने आप में नैतिकता का इतिहास और उदाहरण है। सभी जानते हैं कि पुरुष/पति विधुर हो जाता है तो वह तत्काल दूसरा विवाह करने की सोचता है, सोचता क्या, कर ही डालता है। मगर समसिंग हंसे की कहानी का पति/पुरुष ऐसा नहीं करता; बल्कि हमारी कल्पना से परे रहकर इतिहास में नया अध्याय जोड़ देता है। प्रस्तुत है एक दृष्टांत- ''लंग्की (पुत्री)के जन्म के एक वर्ष बाद करेंग (माता) चल बसी। बारिम (पिता) अपनी पत्नी की यादों में इतनी शिद्दत से जुड़ा हुआ था कि उसने दुबारा घर बसाने की कल्पना तक नहीं की।''[१०] देखिए एक रूढ़ परम्परा को ध्वस्त करते हुए लोक शिक्षा की तालीम और तमीज़ की बानगी प्रस्तुत करते हैं।

तो दूसरी ओर लोक शिक्षा व्यक्ति-मनुष्य को एक तरह से नहीं, हर प्रकार से अपार जिजीविषा से युक्त कर देती है। जब बारिम वृद्ध हो जाता है यानि मृत्यु के निकट पहुंच जाता है तब भी लोक शिक्षा उसे इतना दृढ़ निश्चयी और जीवटता वाला बना देती है कि- ''वृद्ध होने के बावजूद बारिम में अपार जिजीविषा थी और वह मरने की बात भूलकर भी नहीं सोचता'' जबकि आज का बुजुर्ग वृद्धावस्था में प्रवेश करते ही मौत की रट लगाने लगता है। ईश्वर से टेर लगाते रहता है इस संसार से उठा लेने की किन्तु

वारिम ऐसा नहीं करता क्योंकि वह लोक शिक्षा प्राप्त कर अपने को इतना मजबूत कर लिया है कि जीवन-जीवन की सोचता है।

खेल शिक्षा/शारीरिक शिक्षा -

खेल जगत् में लोक खेल-भावना की ऐसी मिसाल की, दुनिया में अनूठी है। सच में, आज की खेल शिक्षा से कई गुनी अच्छी और विकासपूर्ण। लोक में खेल, बिना साधन और मैदान-स्थान के भी संभव हुआ करते थे। आज तो पहले खेल का मैदान फिर साधन-संसाधन, तब कहीं खेल संभव वरना असंभव। लोक के खेल में प्रत्येक ऋतु के खेल होते थे। ऐसा खेल जो ऋतु कोई-सा भी हो, सुनिश्चित ढंग से तथा पूरे कौशल-कौतूहल के साथ खेले जाते रहे हैं। मालती मड़वैया की कथा 'नीम न मीठे होंय' में दिखाई देता है-

''अटकन चटकन धरी चटाकन

मामा लाये सात कटोरी।

एक कटोरी टूट गई

मामा की बहू रूठ गई।

अब मामी को मनाएंगे,

दूध मलाई खाएंगे।''[११] बांके बोल, पृ. 117

इस तरह लोक खेलों से घर बसते थे, टूटते-बिखरते घरों-परिवारों को बसाने की उद्दाम प्रवृत्ति लोक खेलों की रही है, बिखरते देने की नहीं। देखिए जब मामा की बहू रूठ जाती है तो खेल-खेल में मनाकर सब मिल-बैठ दूध-मलाई खाते हैं। इस घर बसाने की परम्परा लोक के खेलों में मिलती है। यह लोक की शिक्षा और लोक जीवन की असल तमीज है।

सहभागिता की प्रेरणा व्यक्ति को जीवन में अगर किसी चीज से मिलती है तो वह है खेल। इसी से हमारा जीवन उमंग और उल्लास से भर जाता है। सहभागिता की प्रवृत्ति सहयोग की भावना पैदा करती है। सुख-दुःख में सहयोग लोक की मूल वृत्ति है। इसीलिए लोक के खेल भी उसी प्रकृति के रचे जाते हैं और दुनिया को नया संदेश देते हैं। कारण स्पष्ट है कि लोक उन्हें उत्सव की तरह खेलता है जिससे व्यक्ति जीवन में स्फूर्ति, ताजगी, प्रसन्नता, धैर्य, सहनशीलता, भाईचारा,, मानसिकता और दैहिक सहजता-सजगता जैसे गुण विकसित होते हैं। बुन्देली लोक खेल 'आपड़ी-थापड़ी' की विश्वसनीय परम्परा का पुट बानगी स्वरूप-

''आपड़ी की थापड़ी

गनेरी को पान

लाओ म्हारी सहेलियां

गो माता को दान।'

खेल ऐसे कि जिन्हें देखते-खेलते मन कभी अघाता नहीं है फिर क्यों'इन अनमोल विरासतों को हम भूलते जा रहे हैं? जिनमें सब-कुछ है - जुड़ाव है, अपना-पन है, भावनाओं की फुहार है। इसीलिए पीढ़ी-दर-पीढ़ी, सभ्यता-दर-सभ्यता हस्तांतरित होते हैं और सहजता से अनुकरणीय होते हैं, इसीलिए लोक जीवन में मिठास आती है। इसीलिए समय के अक्षर मिटते नहीं है।

लोक तकनीक -

लोक सातवें आसमान तक आज से नहीं पुरातन काल से यानि जुग्गातन से जाता-आता रहा है, बिलकुल सुरक्षित और व्यवस्थित ढंग से। सातों आसमान से हमारे संबंध बहुत पुराने हैं। इन संबंधों और पहुंच की क्षमता लोक तकनीक से संभव हो पाती थी। आज की तकनीक और लोक तकनीक में यही अंतर है कि अब हम एक तकनीक से एक ग्रह या आसमान तक पहुंच बना सकते हैं किन्तु प्राचीन लोक तकनीक से एक साथ सात आसमान यानि सातों लोक, सातों ग्रह, सातों समुद्र और सारे जहां में एक समय में पहुंच जाते थे। यह संबंधों-क्षमता की अनूठी मिसाल है। बुन्देली की इन पंक्तियों पर गौर कीजिए जहां भिन्न स्थानों की दूरियां समाप्त-सी प्रतीत होती है और लोक तकनीक का अजायबघर बन जाती है-

भैंस बँधी है ओरछा, पड़ा हुषंगाबाद।

लगवैया है सागरे, चपियां रेवा पार।'

लोक में ऐसी भी मान्यता है कि सरस्वती या विद्या की देवी स्वयं आकर शिक्षा प्रदान करती है जैसी 'बैना' को मिली है। एक सखी बैना से पूछती है- ''काय बैन, ऐसी जादूभरी कढ़ाई, बुनाई काँ से सीकी, का सरसुती ने खुदई आकें सिका दई।''[१२] (बांके बोल, पृ. 107-108)

इस तरह लोक शिक्षा में प्राप्त तकनीक इतना व्यापक और सामर्थ्यवान है कि व्यक्ति-समाज, देश और सारा युग धरती भर में नहीं सातवें आसमान तक बड़ी सरलता से पहुंच बना लेता है। आज की शिक्षा से तो ज्यादा-से-ज्यादा एक ही आसमान यानि सूरज, चांद, मंगल तक पहुंच सकता है। यदि लोक-शिक्षा अथवा लोक की प्रणाली से शिक्षा अर्जित करता है सातवें आसमान पर पहुंच सकता है। ऐसी शिक्षा प्रणाली भला कहाँ। एक बुन्देली मिथक कथा में सच्चा दृष्टांत मिलता है- ''बैंना की गिनती बस्ती के सबसे बड़े आदमियन में होन लगी, घर से गढ़ी बन गई, हतकरघा से कार खानें चलन लगे और लूतारानी के दिमांग सातवें आकासैं पौंच गये।''[१३] (बांके बोल पृ. 107)

वेष-परम्परा की लोकप्रियता-

युगीन व सामयिक परम्परा में 'वेष-खेल' परम्परा का विशिष्ट स्थान है। इतना ही नहीं लोक तकनीक से युक्त सामयिक खेल परम्परा में इसका शुमार है। यह वेष-खेल परम्परा इतनी विषिष्ट और अद्भुत है कि हरेक समय तथा युग में सामयिक ही रहती है। ऐसी अद्भुत और नवीन तकनीक से युक्त गुजरात के असाईत की वेष खेलने की परम्परा है। इससे शिक्षा मनोरंजन के साथ-साथ, अर्थतंत्र और इतिहास भी मजबूत होते हैं।

जिस देश में लोक शिक्षा या देशीय शिक्षा लोक-भाषा, देश-भाषा में प्रदान की जाती है वह देश अपनी वेष परम्परा के लिए भी जगत् में विख्यात होता है। वेष-भूषा ही तो है जो प्रत्येक युग की पहचान कराती है और इतिहास को मजबूत करती है।

गुजराती 'भवाई' लोक नाट्यों व लोक में ऐसी तालीम और तमीज मिलती है कि युग-युगान्तर तक कालजयी बनी रहेगी। तुगलक सत्ता के उद्भव काल तथा इतिहास के 1320 से 1370 का समय बड़ा ही स्वर्णिम है जब उत्तर गुजरात के सिद्धपुर नामक नगर के 'असाईत' ने 'वेष-खेल' परम्परा की शुरूआत कर नवीन लोक खेल को परिष्कृत कर अत्यधिक लोकप्रिय बनाया है।

यह अपने समय की सबसे नवीन और अद्भुत तथा सामयिक खेल परम्परा थी जिसकी तालीम और तमीज स्वयं सिद्ध है। वेष-खेल का अर्थ होता है - सजधज या शोभा सजावट जिसे गुजराती में 'भवाई' भी कहा गया है। 'भवाई' के कलाकार स्वयं ही संवादों को इस प्रकार रच लेते हैं कि प्रसंग और वातावरण के अतिरिक्त 'वेष-सर्जन' में कलाकारों के साथ-साथ दर्शकों की साझेदारी का बोध होता है।''[१४] (हिमांजलि, अंक 18 पृ. 48) यह वेष-सर्जन धार्मिक, पौराणिक, अवस्थाओं, घटनाओं एवं परिस्थितियों के अनुकूल होते हैं। ऐसा कहना अतिश्योक्ति नहीं होगा कि तभी से रामायण, महाभारत और नाटकों तथा साहित्यिक उपादानों में भाव, भाषा एवं पात्रानुकूल वेष-सर्जना या साज-सज्जा किया गया है। यथा- स्त्री, पुरुष, लड़का-लड़की, नौकर-चाकर, बजगिरी आदि के वेष निर्माण किया गया।

इस प्रकार गुजरात के ''असाईत ने वेष खेलने की प्रचलित परम्परा को परिष्कृत करके उसे अत्यधिक लोकप्रिय बनाया।''(हिमांजलि, पृ.47) ऐसा भी माना जाता है कि ''असाईत ने तीन सौ साठ वेषों की रचना की थी।''[१५] (हिमांजलि, पृ. 47) वही परम्परा आज भी दुनिया में चल रही है।

निष्कर्षतः लोक की तालीम तो यही कहती है कि शिक्षा सूरत बदलने के लिए नहीं बल्कि सीरत बदलने के लिए होना चाहिए। जिस दिन ऐसा होगा उस दिन प्रतीक्षा कहानी के 'हन्नी' की बात सच होगी तथा जब भी ''उससे पूछा जाये तो वह यही कहेगा कि खेती करने में अधिक लाभ है।''[१६] यह तमीज़ सब में दिखनी चाहिए। अतः ऐसी तालीम और तमीज चाहिए तो शिक्षा के लोक तकनीक, लोक विज्ञान, और खेती आधारित होना चाहिए। वही शिक्षा लोक व्यापीकरण की नींव रख सकेगी।

एक और महत्त्वपूर्ण बात है कि शिक्षा मंहगी नहीं सरल होनी चाहिए, सबके पहुंच की होनी चाहिए। कृषि और लोक आधारित शिक्षा होगी तो खेती भी बची रहेगी और तमीज भी। तालीम और तमीज का संकट कभी मानव समुदाय में नही आयेगा। और खेती आधारित शिक्षा न होकर मंहगी-मंहगी शिक्षा ग्रहण करते रहे तो समझिए खेती नहीं बचेगी सिर्फ और सिर्फ फार्म हाउस बचेंगें।

इस तरह लोक की तालीम और तमीज मनुष्य जीवन में नया अध्याय जोड़ती हुई इतिहास के लिए धरोहर बन जाती है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1.संपादक विश्वनाथ प्रसाद तिवारी: अप्रैल-जून 2018, दस्तावेज-159, बेतियाहाता, गोरखपुर-२७३००१

2.संपादक अशोक मिश्र : नवम्बर २०१७ – फरवरी २०१८, चौमासा, आदिवासी लोककला एवं बोली विकास अकादमी, मध्यप्रदेश संस्कृति परिषद्, मध्यप्रदेश जनजातीय संग्रहालय, श्यामला हिल्स, भोपाल-४६२००२

3 मुक्तिबोध : सप्तम् संस्करण १९८१, चांद का मुंह टेढा है, भारतीय ज्ञानपीठ, बी/ ४५-४७, कनॉट प्लेस, नयी दिल्ली - ११०००१

4 कैलाश मडबैया : बांके बोल बुन्देली के, बुन्देलखंड साहित्य एवं संस्कृति परिषद् ३४/१० दक्षिण तात्याटोपे नगर, भोपाल – ४६२००३